



ISSN: 2456-4427

Impact Factor: RJIF: 5.11

Jyotish 2018; 3(1): 06-08

© 2018 Jyotish

www.jyotishajournal.com

Received: 03-11-2017

Accepted: 04-12-2017

दीनदयाल सैनी

शोधार्थी संस्कृत विभाग
श्री जे.जे.टी. विश्वविद्यालय,
झुन्डुनू, राजस्थान, भारत

डा. सूर्यनारायण गौतम

एसोसिएट प्रोफेसर –संस्कृत विभाग
श्री जगदीशप्रसाद झाबरमल
टीबड़ेवाला विश्वविद्यालय
झुन्डुनू, राजस्थान, भारत .

International Journal of Jyotish Research (वेदचक्षु)

महाकवि शम्भुदयालपाण्डेय विरचित रजतोपदेश महाकाव्य में धर्मपरायणता दानशीलता एवं तपःपरायणता : एक अध्ययन

दीनदयाल सैनी, डा. सूर्यनारायण गौतम

सारांश

धर्म, दान और तप ये मानवजीवन को मूल्यवान बनाने वाले अनमोल रत्न हैं। इनसे ही किसी भी मानव का जीवन संवरता है, उत्कृष्ट होता है। यही कारण है कि आदिकालीन कवियों ने उक्त तीनों ही गुणों की प्रशंसा अपने काव्यों, महाकाव्यों में मुक्तकण्ठ से किया है। महाकवि शम्भुदयाल जी ने आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अक्त तीनों मानवीय गुणों (मूल्यों) को जाना और पहचाना है तथा उसे अपने महाकाव्य में उचित आदर के साथ उपस्थापित किया है। यह महाकाव्य आधुनिक तेजस्वी सन्यासी 'रजत मुनि' के चरित्र को आधार बनाकर रचित है। प्रस्तुत शोधालेख में उक्त तीनों गुणों को जो मानवीय मूल्यों की कसौटी के रूप में जाने व परखे जाते हैं का महाकवि श्रीमान् पाण्डेय जी द्वारा विरचित महाकाव्य में समावेश किया गया है।

कुट शब्द: धर्मपरायणता, दानशीलता, तपःपरायणता

प्रस्तावना

मानवजीवन को उत्कृष्टता प्रदान करने में धर्म, दान एवं तप का महत्वपूर्ण योगदान होता है महाकवि शम्भु दयाल पाण्डेय द्वारा प्रणीत रजतोपदेशमहाकाव्यम् में इन मानव जीवनमूल्यों की समीक्षा इस प्रकार की जा सकती है –

धर्मपरायणता

धर्मं ध्रियते लोकोऽनेनेति धर्मः, धरति लोकं वेति, व्युत्पत्ति के अनुसार धृ धातु से मन् प्रत्यय करने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। यथा—

न हीयते नापि कदापि नश्यति
न खण्डयते नापि च भज्यते क्षणात्।
न रुध्यते तस्य गतिग्रहादिना
न वार्यते तत्प्रसरस्तस्मैभरैः।¹

रजतोपदेशमहाकाव्यम् के चतुर्थ सर्ग, जिसका नामकरण ही महाकवि ने धर्मवैभवम् किया है में लिखा है कि धर्म एक व्यापक तत्व है जो मानव मात्र को अधोगति से बचाकर उत्कृष्टता की ओर ले जाता है –

धत्ते जनौद्यान् पततोऽप्यधस्तात्,
प्रोच्चैः पदं यो नयते स धर्मः।
प्रमाणबाधा रहितेन चोक्तो,
वेदेन देवेन सुशास्त्रकारैः।²

इसके अतिरिक्त राग द्वेषादि दोषो से निर्मुक्त ज्ञानी एवं अनुभव वृद्धो के वचन भी धर्म हैं। और जिसका आचरण करने पर अन्तरात्मा प्रसन्न होता है तथा मन भी पुलकित होता वह श्रेष्ठ धर्म हैं –
व्यपेत दोषै रनुभूतिवृदैः

Correspondence

दीनदयाल सैनी

शोधार्थी संस्कृत विभाग
श्री जे.जे.टी. विश्वविद्यालय,
झुन्डुनू, राजस्थान, भारत

आप्तैर्यदुक्तं मुनिभिः स धर्मः ।
यस्मिन् कृते हृष्यति चान्तरात्मा
मनः प्रसादः स परोहि धर्मः ॥
महात्मनां दोषविवाजैतानां,
हिते रतानां विगतस्पृहाणाम् ।
सर्वः सदाचार उदार युक्तः
स चापि धर्मो विगत प्रपञ्चः ॥³

आचरणीय धर्म के सन्दर्भ में यहां बताया गया है कि पतित पावनी गंडा के प्रवाह की तरह अनेक धर्म के प्रकार ऋषि-मुनियों ने बताये हैं – तथापि दया, दान, सत्य और तप प्रमुख हैं –

गंडाप्रवाहा इव धर्मभेदाः,
यद्यप्यनन्ता मुनिभिः प्रगीताः ।
चत्वार एतेषु पुनः प्रधानं,
दानं दया सत्ययमस्तपश्च ॥
अन्ये प्रभेद्य पुनस्त्र लीनाः
यथा प्योधौ सरितो ह्यूनन्ताः ।
चतुर्षु धर्मेषु निसेवितेषु
सर्वेऽन्यधर्मा हि भवन्ति पूज्याः ॥⁴

त्रिलोकपावनी गंगा की तरह मुनिजनों ने यद्यपि धर्म के अनन्त भेद बताये हैं फिर भी उन में दान, दया, सत्य तथा तपश्चरण प्रधान है। अन्य जितने भी धर्म के भेद-प्रभेद प्रतिपादित किये गये हैं, वे सब इन्हीं में उसी प्रकार अन्तर्भूत हैं, जिस तरह समुद्र में अनन्त नदियां समाहित हैं।

इस संसार में धर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण किन्तु केवल धर्म धर्म का नाम लेने से कुछ होने वाला नहीं है। धर्म की प्रतिष्ठा के लिए सतत क्रियाशीलता अपेक्षित है। अतः महाकवि ने स्पष्टतः कहा है—

न दीपनाम्ना हिभवेत् प्रकाशः
प्रतीक्षतेऽसौ करयोः प्रयोगः ।
व्यापारमात्रे हि रमानिवासो,
न वार्तया क्वापि भवेत् समृद्धिः ॥⁵

दानशीलता

जीवन मूल्यों का सत् होना परमावश्यक है, असत् जीवन मूल्य मानव-जीवन की दृष्टि से मूल्यहीन है। मात्र हो जाने पर कोई भी जीवन-मूल्य तब तक जीवन मूल्य नहीं माना जा सकता जब तक कि वह शिव और सुन्दर न हो। व्यक्तिगत शिव और सुख को भारतीयों ने कदापि श्रेष्ठ नहीं माना है। व्यक्तिगत शिवं तभी जवनमूल्य की संज्ञा को प्राप्त हो सकते हैं, जबकि उन्हें निर्विवाद सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो। मानव का समग्र अध्ययन, उसके गुण-दोषों का विवेचन व्यष्टिगत सन्दर्भ में न होकर समष्टिगत होता है।⁶

एक का नहीं अपितु जो सभी का लक्ष्य होगा, वही वस्तुतः सत्यं, शिवं सुन्दरम् से समन्वित हो सकता है। मानव हो न हो किन्तु मानवता अनिवार्यतः सत्य शिव और सुन्दर होती है। इसलिए जीवन-मूल्यानुसार जीने से तात्पर्य है, मनुष्य यह सोचकर जीये कि हम मनुष्य हैं और एक ही मानवता के अंग हैं— इस प्रकार की सार्वभौमिकता ही उत्कृष्ट जीवन का आधार है।⁷

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्ण ने कहा है यदि मनुष्य अपने स्व का विस्तार कर लें तो सार्वभौमिक कल्याण का प्रसार हो जायेगा।⁸ मानव स्वयम् अपने आप में अपूर्ण है। अतः मानव के निजी हित पर केन्द्रित सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं द्वारा समन्वित एवं निर्धारित कोई भी जीवन को जीने को प्रतिमान एक अपूर्ण जीवन मूल्य ही हो सकता है। पूर्ण नहीं उसका सम्पूर्ण मानवता से तादात्म्य ही उसे पूर्णता प्रदान कर सकता है।⁹

महाकवि ने जो दानवैभवम् शीर्षक से पंचमसर्ग में वर्णन किया है वह स्व को सार्वभौमिक बनाने पर ही सम्भव है मानवीय पवृति त्रिगुणात्मक है। अतः सात्विक, राजस, तथा तामस दान का उल्लेख प्रथमतः किया है।¹⁰ 'स्व' के सार्वत्रिक, सार्वभौमिक विस्तृत होने पर मनुष्य आत्मवत् प्राणीमात्र की सुख दुःखात्मक अनुभूति करने लगता है। फलतः उसकी सहज प्रवृति उदारतामय हो जाती है। उसके पास जो कुछ ऐश्वर्य, सम्पदा सामार्थ्य तथा विद्या आदि है वे सभी संमष्टि के लिए समर्पित होने लगती है। वह प्रयास पूर्वक परार्थ-कार्य में प्रवृति नहीं करता, अपितु उसकी प्रवृति सहज रूप से बनी रहती है। दूसरो को उसकी दानशीलता का अनुभव होता है। किन्तु वह विनम्रता सहजता से इस तरह कार्य करता है कि उसके दाएं हाथ के दान को बायां हाथ भी न ही जान पाता। निःस्वार्थ दानात्मक प्रवृति से उसकी कीर्ति दिगन्त व्यापिनी हो जाती है। जनता समय-समय पर उसका सम्मान, आदर व अभिनन्दन करने लगती है –

दानेन भोगा विपुला हि कीर्तिः
स्वामित्वमुच्चैः सततं प्रतिष्ठा ।
पदे पदे सात्क्रियते जनौद्यैः
गायन्ति कीर्ति बुधवन्दिनोऽपि ॥¹¹

दान के प्रभाव से वृक्षों में पुष्प फल की बहुतायता दृष्टिगोचर होती है। उसी के प्रभाव से गायें भी प्रचुर मात्रा में दूध देती हैं। दान से ही नदियों में स्वच्छ एवं निर्मल जल की धारा अनवरत प्रवाहित होती रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दान के बिना जीवन निष्प्रयोजन है—

दानेन वृक्षा विफलं फलन्ति,
तेनैव गावोऽपि सदा दुहन्ति ।
दानेन नद्यः प्रचलन्ति वेगाद,
दानं बिना जीवनमेव नष्टम् ॥¹²

तपःपरायणता

तप की गरिमा एवं महिमा अपार है। 'तप' करके मनुष्य कुन्दन की तरह अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। श्रीमद् भगवद् गीता में देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानीजनो का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा— को 'षारीरिक तप' कहा गया है। जो उद्वेग न करने वाला प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषणकर्ता, जो वेद-शास्त्रों के पठन एवं परमेश्वर जष का अभ्यास है— वही वाणी सम्बन्धी तप या वाङ्मयतप कहलाता है। मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भवच्चिन्तन करने का स्वीभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभांति पवित्रता — इस प्रकार का तप मानस-तप कहलाता है।

तप के सात्विक, राजस एवं तामस के त्रिविध भेदों का वर्णन करते हुए भगवद्गीता में कहा गया है कि फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों के द्वारा परमं श्रद्धा से किये हुए तप को सात्विक तप कहते हैं।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तपि अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहां राजस, कहा गया है। अन्य तप का वर्णन करते हुए गीताकार ने कहा है कि जो तप मूढतापूर्वक हठ से, मन वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस-तप कहलाता है।

साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों-महर्षियों ने अपने तपोबल से लोकमंगल कार्यों का सम्पादन करते हुए राजर्षि से ब्रह्मर्षि के स्वरूप को प्राप्त किया। सन्तापार्थक प्रप धातु, का वास्तविक अर्थ ही है — तपाना । तप में शरीर को तपाना पड़ता है। शास्त्र, इस के प्रमाण है।

महाकवि की दृष्टि में तपश्चरणं का महत्व एवं मान व जीवन मूल्यत्व को इस प्रकार समझा जा सकता है –

यावन्नो दहने तपत्यातितरां, स्वर्ण खनेरुद्गतं,
तावन्नो विजहाति चान्तरगतं सूक्ष्मं परं कल्मषम्।
तप्ते वीतमले तदेव कनकं देदीप्यते चाधिकं
मूल्यं भूरितरं पुनस्तु लभते भूषात्मना धार्च्यते ॥
आत्मा चापि तथा कुकर्मवषगो हित्वा निजं गौरवं
मालिन्यं वहते पतत्यविरतं नीचैगतौ प्रत्यहम्।
दौर्जन्यंविदधाति मुञ्चति दयां श्रेयस्करिं सत्क्रियां,
कामान्धो नरकावनीं चिरतरं गत्वा पुनः ताम्यति ॥
दैवात् प्राप्य नरत्वमुन्नतकुलं सत्संगतिं सेवते,
धर्म जागरयत्यघं विभजते तातप्यते चेत्तपः।
हित्वां कर्ममलं स्व भावममलं सम्प्राप्यं विद्योतते,
लब्ध्वा सवं सहजं सुखं शिवमयं देवैः सदानम्यते ॥
पष्येदं तपसः फलं शुभमते गौरीपतेः साम्यकं
गच्छन् कर्मरजोमलं विघटयन् जीवः षिवोऽभूद स्वयम्।
चोर्दच्छस्यमलं षिवं निजपदं गन्तुं निसगोज्ज्वलं
शीघ्रं तेन विधत्स्व निर्मलतपः कायेन वाचा हृदा ॥¹³

तात्पर्य यह है कि खनिज के रूप में धरती से निकला हुआ स्वर्ण जब तक सन्तापित नहीं किया जाता है तब तक स्वयं में विद्यमान विकास को छोड़ नहीं पाता है किन्तु वही स्वर्ण अग्नि में तपा दिये जाने पर अत्यधिक कान्तिमान् कुन्दन बन जाता है, इस स्थिति में वह बहुमूल्य हो जाता है तथा अलंकरण रूप में शरीर पर धारण किया जाता है। उसी तरह मनुष्य भी अपने पूर्वजन्म तथा इस जन्म के शास्त्र विरुद्ध कर्मों के वषीभूत होकर अपने गौरव से रहित होकर तमोगुणी जीवन व्यतीत करता हुआ नित्य प्रति अधोगति को प्राप्त होता है। सदगुण, दान, दया, सत्कर्म आदि से विरहित होकर इन्द्रियों से सम्बन्धित विषयों की पूर्ति में लगा हुआ नरक गति अर्थात् कष्ट भोगता है।

महाकवि ने कहा है कि तपस्या से कुछ भी दुर्लभ नहीं है। हमारे पूजनीय ऋषियों ने तपश्चरण के प्रभाव से अलभ्य को सुलभ किया तथा क्या क्या गौरव प्राप्त नहीं किया—

“किं किं नो तपसा कृतं मुनिवरेः प्राप्तं न किं गौरवम्”¹⁴

अतः निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि तपस्या जीवन को जागृति पूर्ण बनानी है। तपस्या जीवन मूल्यों का श्रृंगार है। तपस्या के प्रभाव से संचित कर्ममल की पूर्णतया शुद्धि होती है। तपः प्रधान मनुष्य का चरित्र जन-जन की प्रेरणा का स्रोत होता है। तपोमूलक चरित्र ही सर्वश्रेष्ठ चरित्र है। तप, क्रूर कर्मों को विनष्ट करने में सक्षम होते हैं।

सन्दर्भ :-

1. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 12/17
2. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 4/1
3. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 4/2-3
4. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 4/7-8
5. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 4/1
6. नीतिशास्त्र शान्तिजोषी, पृष्ठ 205
7. The complete works of swami vivekanand Vol. 1
8. An idealist view of life page 360] Radhakrishan. P. 57-58
9. Religion of man raindranath Tagore P.N. 47
10. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 5/1-3
11. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 5/7
12. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 5/20
13. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 6/1-4
14. रजतोपदेशमहाकाव्यम् 6/5